॥ॐ॥
॥श्री परमात्मने नम: ॥
॥श्री गणेशाय नमः॥

याज्ञवल्क्य उपनिषद

विषय सूची

॥अथ याज्ञवल्क्योपनिषत् ॥ 3

याज्ञवल्क्य उपनिषद 4

शान्तिपाठ 18

॥ श्री हरि ॥

॥अथ याज्ञवल्क्योपनिषत् ॥

॥ हरिः ॐ ॥

संन्यासज्ञानसम्पन्ना यान्ति यद्वैष्णवं पदम् ।
तद्वै पदं ब्रह्मतत्त्वं रामचन्द्रपदं भजे ॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

वह परब्रह्म पूर्ण है और वह जगत ब्रह्म भी पूर्ण है, पूर्णता से ही पूर्ण उत्पन्न होता है। यह कार्यात्मक पूर्ण कारणात्मक पूर्ण से ही उत्पन्न होता है। उस पूर्ण की पूर्णता को लेकर यह पूर्ण ही शेष रहता है।

॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

भगवान् शांति स्वरुप हैं अत: वह मेरे अधिभौतिक, अधिदैविक और अध्यात्मिक तीनो प्रकार के विघ्नों को सर्वथा शान्त करें ।

॥ हरिः ॐ ॥

॥ श्री हरि ॥

॥ याज्ञवल्क्योपनिषत् ॥

याज्ञवल्क्य उपनिषद

हरिः ॐ ॥ अथ जनको ह वैदेहो याज्ञवल्क्यमुपसमेत्योवाच
भगवन्संन्यासमनुब्रूहीति कथं संन्यासलक्षणम् । स होवाच
याज्ञवल्क्यो ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत् । गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत् ।
यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा ।
अथ पुनर्व्रती वाव्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वा
उत्सन्नाग्निरनग्नोकोऽवा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत् ।

एक समय विदेहराज जनक महर्षि याज्ञवल्क्य जी के समक्ष जाकर बोले- "हे भगवन् ! आप कृपा करके हमें संन्यास-धर्म समझाने का कष्ट करें।" तब याज्ञवल्क्य जी ने कहा-हे राजन्! ब्रह्मचर्याश्रम को विधि-विधान से पूर्ण करके, गृहस्थ आश्रम को ग्रहण करना चाहिए। गृहस्थ धर्म में पुत्र-कलत्रादि का सुख भोगकर वन में निवास करे। वानप्रस्थ आश्रम के बाद संन्यास आश्रम को धारण कर लेना चाहिए। यदि जितेन्द्रिय हो जाये, तो ब्रह्मचर्याश्रम से ही संन्यास ले ले या फिर अपनी इच्छानुसार गृहस्थ आश्रम के पश्चात् ले लेना चाहिए। वस्तुतः वानप्रस्थ के पश्चात् या फिर जिस दिन संसार से सर्वथा वैराग्य हो

जाए, उसी दिन संन्यास ले लेना चाहिए। चाहे व्रती हो या नहीं, स्नातक हो अथवा न हो, अग्नि की सेवा कर चुका हो अथवा नहीं, जिस क्षण वैराग्य उत्पन्न हो जाए, उसी क्षण संन्यास ले लेना चाहिए ॥ १ ॥

तदेके प्राजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्ति । अथ वा न
कुर्यादाग्नेय्यामेव कुर्यात् । अग्निर्हि प्राणः । प्राणमेवैतया करोति ।
त्रैधातवीयामेव कुर्यात् । एतयैव त्रयो धातवो यदुत सत्त्वं
रजस्तम इति अयं ते योनिरृत्विजो यतो जातो अरोचथाः ।

इसके पश्चात् कुछ लोग प्राजापत्य यज्ञ करते हैं। या फिर इस यज्ञ को न कर आग्नेय यज्ञ ही कर ले, क्योंकि अग्नि ही प्राण है। इस यज्ञ द्वारा प्राण का ही पोषण होता है या सत, रज, तम त्रिधातुओं से सम्बन्धित यजन करे। तब इस मंत्र से अग्नि का आघ्राण करे-'हे अग्निदेव! जिस मूल कारण से आप प्रादुर्भूत होकर प्रकाशित हो रहे हैं, उसको जानते हुए आप खुब प्रज्वलित हों एवं हमारे ऐश्वर्य को बढ़ाएँ ।' यही अग्नि का मूल कारण है-यही प्राण है। अतः हे अग्निदेव! आप अपने योनि रूप प्राण में प्रतिष्ठित हो जाएँ ॥ २ ॥

तं जानन्नग्न आरोहाथानो वर्धया रयिमित्यनेन मन्त्रेणाग्निमाजिघ्रेत् ।
एष वा अग्नेर्योनिर्यः प्राणं गच्छ स्वां योनिं गच्छ
स्वाहेत्येवमेवैतदाग्रामादग्निमाहृत्य पूर्ववदग्निमाजिघ्रेत् यदग्निं न
विन्देदप्सु जुहुयादापो वै सर्वा देवताः सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि
स्वाहेति साज्यं हविरनामयम् । मोक्षमन्त्रस्त्रय्येवं वेद तद्ब्रह्म

तदुपासितव्यम् । शिखां यज्ञोपवीतं छित्त्वा संन्यस्तं मयेति त्रिवारमुच्चरेत् । एवमेवैतद्भगवन्निति वै याज्ञवल्क्यः ॥ १॥

ग्राम (गाँव) से अग्नि को लाकर पूर्व की भाँति ही उसका आघ्राण करे। यदि अग्नि न मिल सके, तो जल में ही यजन कृत्य सम्पन्न करे; क्योंकि जल को सर्वदेवमय कहा गया है। मैं सभी देवों के प्रति हवन करता हूँ,'स्वाहा'यह आहुति उन्हें प्राप्त हो। इस प्रकार हवन करके उसका प्राशन करे अर्थात् उसे खा ले। यह रोगनाशक घृतयुक्त हवि है। मोक्ष मंत्रों के द्वारा इस तरह से वेदत्रयी की प्राप्ति करे। वह ही ब्रह्म है,उसकी उपासना करनी चाहिए। चोटी एवं यज्ञोपवीत का परित्याग करके 'मैंने संन्यास ग्रहण कर लिया है, 'इस प्रकार से इसका तीन बार उच्चारण करे। हे विदेहराज जनक जी ! यह विधि ऐसी ही है,ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा ॥३॥

अथ हैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं यज्ञोपवीती कथं ब्राह्मण इति । स होवाच याज्ञवल्क्य इदं प्रणवमेवास्य तद्यज्ञोपवीतं य आत्मा । प्राश्याचम्यायं विधिरथ वा परिव्राड्विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः शुचिरद्रोही भैक्षमाणो ब्रह्म भूयाय भवति ।

इसके पश्चात् याज्ञवल्क्य जी से अत्रि ऋषि ने पूछा- 'हे महर्षे ! यज्ञोपवीत के बिना कोई ब्राह्मण कैसे रह सकता है? याज्ञवल्क्य ऋषि ने कहा कि यह ॐकार ही उस संन्यासी का यज्ञोपवीत है, यही आत्मा है। जो पूर्वोक्त प्रकार से हवन करके उसका प्राशन कर आचमन कर लेता है। उस के लिए मात्र यही विधि है ॥ ४॥

एष पन्थाः परिव्राजकानां वीराध्वनि वाऽनाशके वापां प्रवेशे वाग्निप्रवेशे वा महाप्रस्थाने वा । एष पन्था ब्रह्मणाहानुवित्तस्तेनेति स संन्यासी ब्रह्मविदिति । एवमेवैष भगवन्निति वै याज्ञवल्क्य ।

इस प्रकार गेरुवे वस्त्र धारण करने वाला संन्यासी मुण्डनयुक्त, अपरिग्रही, पवित्रतायुक्त, किसी से द्रोह (ईष्र्या-द्वेष) न करने वाला, भिक्षाचरण करता हुआ ब्रह्मपद को प्राप्त होता है, वह ब्रह्मस्वरूप है अर्थात् ब्रह्म की प्राप्ति के लिए समर्थ है। संन्यासियों के लिए यही मार्ग है-यही विधि है। जल प्रवेश, अग्नि प्रवेश, वीरगति, महाप्रस्थान(मृत्युमोक्ष) आदि में परिव्राजकों (संन्यासियों) के लिए यह रास्ता निर्दिष्ट किया है। इसी कारण से संन्यासी ब्रह्म का ज्ञाता (जानकार) होता है। यह विधि ऐसी ही है महाराज; ऐसा याज्ञवल्क्य जी ने कहा ॥५॥

तत्र परमहंसा नाम संवर्तकारुणिश्वेतकेतुदूर्वासऋभुनिदाघदत्तात्रेयशुकवामदेवहारीतक प्रभृतयोऽव्यक्तलिङ्गाऽव्यक्ताचारा

यहाँ इन संन्यासियों में श्रेष्ठ परमहंस नाम वाले, अव्यक्त चिह्न को धारण करने वाले, अव्यक्त स्वभाव वाले, अनुन्मत्त होते हुए भी उन्मत्त (पागलों की भाँति) आचरण करने वाले हैं। (इनके नाम इस प्रकार हैं-) संवर्तक, आरुणि, श्वेतकेतु, दुर्वासा, ऋभु , निदाघ, दत्तात्रेय, शुक, वामदेव, हारीतक आदि-आदि ॥ ६॥

अनुन्मत्ता उन्मत्तवदाचरन्तः परस्त्रीपुरपराङ्मुखास्त्रिदण्डं कमण्डलुं भुक्तपात्रं जलपवित्रं शिखां यज्ञोपवीतं बहिरन्तश्चेत्येतत्सर्वं भूः स्वाहेत्यप्सु परित्यज्यात्मानमन्विच्छेत् ।

संन्यासी को चाहिए कि वह दूसरों की स्त्रियों को न देखता हुआ तथा नगर में न रहता हुआ, त्रिदण्ड, कमण्डलु, भुक्तपात्र (भोजन पात्र), जल पवित्र, शिखा, यज्ञोपवीत आदि सभी बाह्य एवं आन्तरिक प्रतीक चिह्नों को 'भूः स्वाहा' कहकर जल में विसर्जित करता हुआ निरन्तर आत्मा का अनुसंधान करता रहे ॥ ७ ॥

यथा जातरूपधरा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहास्तत्त्वब्रह्ममार्गे सम्यक्सम्पन्नाः शुद्धमानसाः प्राणसन्धारणार्थं यथोक्तकाले विमुक्तो भैक्षमाचरन्नुदरपात्रेण लाभालाभौ समौ भूत्वा करपात्रेण वा कमण्डलूदकपो भैक्षमाचरन्नुदरमात्रसंग्रहः पात्रान्तरशून्यो जलस्थलकमण्डलुरबाधकरहःस्थलनिकेतनो लाभालाभौ समौ भूत्वा शून्यागारदेवगृहतृणकूटवल्मीकवृक्षमूलकुलालशालाग्निहोत्रशालान दीपुलुनगिरिकुहरकोटरकन्दरनिर्झरस्थण्डिलेष्वनिकेतनिवास्य-प्रयत्नःशुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः संन्यासेन देहत्यागं करोति स परमहंसो नामेति ।

दिगम्बर,(शीत-उष्ण, सुख-दुःखादि) द्वन्द्वों से रहित, परिग्रहरहित, ब्रह्मरूप तत्त्व की प्राप्ति के मार्ग में सम्यक् रूप से लगे हुए शुद्ध हृदय वाले, केवल प्राण तत्त्व को धारण करने के लिए यथा समय स्वच्छन्दतापूर्वक भिक्षा द्वारा उदर-पूर्ति करने वाले, लाभ-हानि की चिन्ता न करते हुए, हाथ के पात्र अथवा खप्पर में माँगकर भोजन

ग्रहण करते हुए तथा कमण्डलु का जल पीकर आनन्दपूर्वक विचरण करे। भोजन मात्र इतना ही माँगे, जिससे कि उदर पूर्ति हो जाये, संग्रह करके रखने की आवश्यकता न हो। अपने निवास के लिए बाधारहित कोई एकान्त गुप्त स्थल का चुनाव करे। खाली खण्डहर, देवमन्दिर, तृण आदि की झोपड़ी, वल्मीक, वृक्ष की जड़ के समीप, कुम्हारों की झोपड़ी, यज्ञशाला, नदी का तट, गुफा (खोह) अथवा झरनों के बड़े-बड़े पत्थरों पर हमेशा के लिए घर न बनाते हुए भी निवास करता हुआ, अपने शुभाशुभ समस्त कर्मों को निर्मूल करता हुआ जो संन्यास धर्म से शरीर को त्याग देता है, वह परमहंस के रूप में जाना जाता है ॥ ८॥

आशाम्बरो न नमस्कारो न दारपुत्राभिलाषी लक्ष्यालक्ष्यनिर्वर्तकः
परिव्राट् परमेश्वरो भवति । अत्रैते श्लोका भवन्ति ।

वस्त्रादि से रहित, सभी में एक मात्र ब्रह्म को देखता हुआ किसी भी व्यक्ति को नमन के योग्य न। समझते हुए, स्त्री-पुत्रादिकों के प्रति आसक्ति से हीन, लक्ष्य (लक्षणादि से ज्ञात) तथा अलक्ष्य (समाहित व असमाहित अवस्थाओं द्वारा) दोनों का निर्वर्तक (सब कुछ त्याग देने वाला) संन्यासी ही परमेश्वर होता है। इस सम्बन्ध में ये श्लोक कहे गये हैं॥९॥

यो भवेत्पूर्वसंन्यासी तुल्यो वै धर्मतो यदि ।
तस्मै प्रणामः कर्तव्यो नेतराय कदाचन ॥ १॥

जिस मनुष्य ने अपने से पूर्व (पहले ही) संन्यास ग्रहण कर लिया हो अथवा जो धर्म तुल्य हो अर्थात् आचार-विचार एवं सम्प्रदाय से जो श्रेष्ठ हो, उसे ही प्रणाम करना चाहिए, किसी अन्य को नहीं ॥ १० ॥

प्रमादिनो बहिश्चित्ताः पिशुनाः कलहोत्सुकाः ।
संन्यासिनोऽपि दृश्यन्ते देवसंदूषिताशयाः ॥ २॥

प्रमादी, बहिर्मुखी, विषयों में आसक्त रहने वाले, नीच, कलह प्रिय एवं वेद के आशय (विचार) को दोषपूर्ण प्रतिपादित करने वाले संन्यासी भी देखने में आते हैं ॥ ११ ॥

नामादिभ्यः परे भूम्नि स्वाराज्ये चेत्स्थितोऽद्वथे ।
प्रणमेत्कं तदात्मज्ञो न कार्यं कर्मणा तदा ॥ ३॥

नाम, धाम, काम एवं अवस्था आदि से परे, ऊँचे श्रेष्ठ स्थान पर प्रतिष्ठित, अद्वय रूप स्वाराज्य में (जिसमें अपने से भिन्न कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता) स्थित, स्थिर मति, आत्म तत्त्व में निष्णात संन्यासी भला कैसे किसी को प्रणाम करे; क्योंकि वह तो सभी में अपना ही रूप देखता है। उसके लिए तो कोई भी कार्य संसार में शेष नहीं रहता ॥ १२॥

ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ।
प्रणमेद्दण्डवद्भूमावाश्वचण्डालगोखरम् ॥ ४॥

ईश्वर को यह समझकर कि वह जीव के रूप में इस संसार के समस्त प्राणियों में स्थित है, घोड़े, चाण्डाल, गौ तथा गधे आदि सभी को दण्डवत् प्रणाम करता है ॥ १३ ॥

मांसपाञ्चालिकायास्तु यन्त्रलोकेऽङ्गपञ्जरे ।
स्नाय्वस्थिग्रन्थिशालिन्यः स्त्रियः किमिव शोभनम् ॥ ५॥

मांस-मेदा आदि द्वारा निर्मित, यत्र-तत्र गमन करने वाली पिटारी रूप नारी के शरीर में, जिसमें कि नसे, हड्डी एवं ग्रन्थियाँ ही स्थित हैं, कौन-सी वस्तु शोभनीय है ॥ १४ ॥

त्वङ्मांसरक्तबाष्पाम्बु पृथक्कृत्वा विलोचने ।
समालोकय रम्यं चेत्किं मुधा परिमुह्यसि ॥ ६॥

इस (देवी स्वरूपा नारी) की त्वचा, मांस, रक्त, अश्रु एवं नेत्र आदि पृथक्-पृथक् करके (उसके शरीर के आन्तरिक अवयवों को) तो देखो। क्या वे शोभनीय लगते हैं.? यदि नहीं, तो फिर क्यों इस पर व्यर्थ में इतने मुग्ध (आसक्त) हुए जाते हो ॥ १५ ॥

मेरुशृङ्गतटोल्लासि गङ्गाजलस्योपमा ।
दृष्टा यस्मिन्मुने मुक्ताहारस्योल्लसशालिता ॥ ७॥

जिसके स्तनों पर लटकने वाले हार को मेरुपर्वत के शिखरों के बीच से गिरने वाली गंगाजल की धारा की उपमा दी गई है और वैसे ही वह हार परिलक्षित भी होता है ॥ १६ ॥

श्मनानेषु दिगन्तेषु स एव ललनास्तनः ।
श्वभिरास्वाद्यते काले लघुपिण्ड इवान्धसः ॥ ८॥

श्मशान में तथा यत्र-तत्र दिशाओं में कटकर गिरा हुआ वही नारी का स्तन समय आने पर कुत्तों द्वारा इस तरह से खाया जाता हुआ दिखाई पड़ता है, जैसे कि एक सामान्य-सा खाद्य पदार्थ का टुकड़ा॥ १७॥

केशकज्जलधारिण्यो दुःस्पर्शा लोचनप्रियाः ।
दुष्कृताग्निशिखा नार्यो दहन्ति तृणवन्नरम् ॥ ९॥

सुन्दर केशों को सुव्यवस्थित किये हुए, नेत्रों में कज्जल (काजल) लगाने वाली, दुःस्पर्श (स्पर्श के लिए दुष्प्राप्य), नेत्रों को प्रिय लगने वाली, प्रज्वलित अग्नि शिखा के सदृश जो स्त्रियाँ हैं; वे मनुष्य को तृणवत् क्षणभर में जला देती हैं॥ १८॥

ज्वलना अतिदूरेऽपि सरसा अपि नीरसाः ।
स्त्रियो हि नरकाग्नीनामिन्धनं चारु दारुणम् ॥ १०॥

ये स्त्रियाँ दूर से ही दग्ध कर देने वाली, अत्यन्त रसयुक्त लगती हुई भी रसहीन कर देने वाली, नरक की अग्नि की लकड़ियाँ हैं, जो कि चारु दारुण (सुन्दर होने पर भी अत्यन्त दुःख दायी) प्रतीत होती हैं ॥१९ ॥

कामनाम्ना किरातेन विकीर्णा मुग्धचेतसः ।
नार्यो नरविहङ्गानामङ्गबन्धनवागुराः ॥ ११॥

कामदेव रूपी बहेलिये ने मानव रूपी पक्षियों को आबद्ध करने के लिए हृदय को मोहित कर देने वाला स्त्रीरूपी जाल बिछा रखा है॥ २० ॥

जन्मपल्वलमत्स्यानां चित्तकर्दमचारिणाम् ।
पुंसां दुर्वासनारज्जुर्नारीबडिशपिण्डिका ॥ १२॥

जन्म रूपी तलैया में निवास करने वाली, कलुषित हृदय रूपी कीचड़ में चलने वाले मनुष्य रूपी मछलियों के लिए दुर्वासना रूपी रस्सी से बँधी ये स्त्रियाँ मछली पकड़ने वाले काँटे की भाँति हैं ॥ २१॥

सर्वेषां दोषरत्नानां सुसमुद्गिकयानया ।
दुःखशृङ्खलया नित्यमलमस्तु मम स्त्रिया ॥ १३॥

सभी तरह के दोष रत्नों की पिटारी रूप इन दु:खों की जंजीर रूपी स्त्री से तो भगवान ही बचाये ॥ २२ ॥

यस्य स्त्री तस्य भोगेच्छा निस्त्रीकस्य क्व भोगभूः ।
स्त्रियं त्यक्त्वा जगत्त्यक्तं जगत्त्यक्त्वा सुखी भवेत् ॥ १४॥

जिसके पास स्त्री है, उसी के पास भोग की इच्छा है तथा जिसके पास स्त्री ही नहीं, वह कहाँ किसके साथ भोगे? यदि कोई मनुष्य स्त्री का त्याग कर दे, तो यह समझना चाहिए कि उसने संसार को ही छोड़ दिया। संसार छोड़ देने पर तो प्रत्येक व्यक्ति सुखी हो ही जाता है॥ २३ ॥

अलभ्यमानस्तनयः पितरौ क्लेशयेच्चिरम् ।
लब्धो हि गर्भपातेन प्रसवेन च बाधते ॥ १५॥

वैसे पुत्र भी कष्ट देने वाला ही होता है; क्योंकि पुत्र न होने पर माता-पिता को बहुत क्लेश होता है। यदि किसी तरह से प्राप्त भी हो जाए, तो गर्भपात हो जाने अथवा प्रसव पीड़ा का कष्ट ही देता है॥ २४ ॥

जातस्य ग्रहरोगादि कुमारस्य च धूर्तता ।
उपनीतेऽप्यविद्यत्वमनुद्वाहश्च पण्डिते ॥ १६॥

यदि किसी प्रकार से (पुत्र) हो भी जाता है, तो उसे ग्रह, रोग आदि हो जाते हैं या फिर बालक ही नालांयक हो जाता है। वह यज्ञोपवीत हो

जाने के बाद भी अज्ञानी रह जाता है और यदि पढ़-लिख जाये, तो विवाह होना दुष्कर हो जाता है ॥ २५ ॥

यूनश्च परदारादि दारिद्र्यं च कुटुम्बिनः ।
पुत्रदुःखस्य नास्त्यन्तो धनी चेन्म्रियते तदा ॥ १७॥

इसके अतिरिक्त जवान लड़के का 'पर नारी से बुरा सम्पर्क न हो जाये' आदि भय बना रहता है या फिर यदि विवाह हो जाये, तो बालकों की इतनी संख्या हो जाती है कि परिवार का भरण-पोषण भी कठिन हो जाता है। इस तरह से पुत्र से होने वाले दुःखों की कोई गणना नहीं। इसके अलावा यह भी देखने में आता है कि सेठ लोगों के बच्चे ही नहीं होते और यदि होते भी हैं, तो मर जाते हैं आदि-आदि। (अतः इन समस्त दुःखों की कारण-भूत स्त्री का परित्याग कर देना चाहिए या विवाह ही न करे) ॥ २६ ॥

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलो यतिः ।
न च वाक्चपलश्चैव ब्रह्मभूतो जितेन्द्रियः ॥ १८॥

यति को हाथ, पैर, आँखों और वाणी का चंचल नहीं होना चाहिए अर्थात् उसे पूर्ण जितेन्द्रिय होना चाहिए। तभी वह ब्रह्मचर्य-धर्म का पालन कर सकता है ॥ २७ ॥

रिपौ बद्धे स्वदेहे च समैकात्म्यं प्रपश्यतः ।
विवेकिनः कुतः कोपः स्वदेहावयवेष्विव ॥ १९॥

शत्रु एवं सांसारिक बन्धनों से युक्त शरीर में जो एक भाव से देखने वाला ज्ञानशील यति होता है, उसे किसी पर भी क्रोध नहीं आता। जिस प्रकार कि व्यक्ति को अपने हाथ-पैर आदि अंगों पर क्रोध नहीं आता ॥२८॥

अपकारिणि कोपश्चेत्कोपे कोपः कथं न ते ।
धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रसह्य परिपन्थिनि ॥ २०॥

क्रोध करने वाले आदमी से पूछना चाहिए कि क्रोध पर ही तुम क्रोध क्यों नहीं करते हो; जो समस्त वस्तुओं का मूल कारण है। साथ ही जो धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष का बलवान् बैरी है॥ २९॥

नमोऽस्तु मम कोपाय स्वाश्रयज्वालिने भृशम् ।
कोपस्य मम वैराग्यदायिने दोषबोधिने ॥ २१॥

अपने स्वयं के आधार को ही भस्म कर देने वाले क्रोध के लिए मेरा बारम्बार नमस्कार है। मुझे वैराग्य प्रदान करने वाले एवं दोषों का बोध कराने वाले कोप को बारम्बार नमन-वंदन है॥ ३० ॥

यत्र सुप्ता जना नित्यं प्रबुद्धस्तत्र संयमी ।
प्रबुद्धा यत्र ते विद्वान्सुषुप्तिं याति योगिराट् ॥ २२॥

जहाँ (जब)सामान्य जन शयन करते हैं, वहाँ (तब) संयमी पुरुष जागता है(संयमी पुरुष पूर्ण सावधान रहता है)तथा जब अन्य सामान्य जन जागते हैं, तब योगी पुरुष सुषुप्ति का आश्रय प्राप्त कर लेता है॥ ३१ ॥

चिदिहास्तीति चिन्मात्रमिदं चिन्मयमेव च ।
चित्त्वं चिदहमेते च लोकाश्चिदिति भावय ॥ २३॥

यति को यही भावना करनी चाहिए कि मैं इस संसार में चित्स्वरूप ही हूँ। अखण्ड ब्रह्माण्ड चिन्मय है तथा सभी कुछ चिद्रूप ही है। मैं भी चिद् ही हूँ एवं सम्पूर्ण सृष्टि चिद्रूप ही है॥ ३२ ॥

यतीनां तदुपादेयं पारहंस्यं परं पदम् ।
नातः परतरं किञ्चिद्विद्यते मुनिपुङ्गवः ॥ २४॥

हे मुनि श्रेष्ठ! परमहंस का परम श्रेष्ठ पद मोक्ष ही यतियों के लिए उपादेय (अर्थात् आवश्यक वस्तु) है। इससे बढ़कर और कुछ भी नहीं है। यही सर्वोत्कृष्ट है। इस प्रकार यह उपनिषद् पूर्ण हुई ॥३३॥

॥हरिः ॐ॥

शान्तिपाठ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमदुच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

वह परब्रह्म पूर्ण है और वह जगत ब्रह्म भी पूर्ण है, पूर्णता से ही पूर्ण उत्पन्न होता है। यह कार्यात्मक पूर्ण कारणात्मक पूर्ण से ही उत्पन्न होता है। उस पूर्ण की पूर्णता को लेकर यह पूर्ण ही शेष रहता है।

॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

भगवान् शांति स्वरुप हैं अत: वह मेरे अधिभौतिक, अधिदैविक और अध्यात्मिक तीनो प्रकार के विघ्नों को सर्वथा शान्त करें ।

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥

॥ इति याज्ञवल्क्योपनिषत्समाप्ता ॥

॥ याज्ञवल्क्य उपनिषद समात ॥

संकलनकर्ता:

श्री मनीष त्यागी

संस्थापक एवं अध्यक्ष
श्री हिंदू धर्म वैदिक एजुकेशन फाउंडेशन

www.shdvef.com

॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय: ॥